

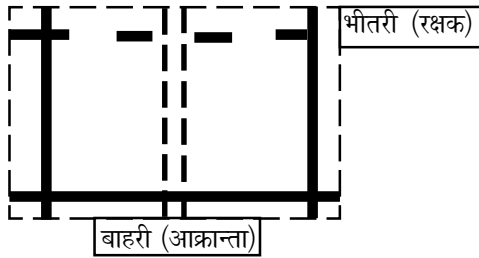
सभी भाषाएँ बहु मिश्र हैं

भगवान सिंह

जा

वेद अख्तर का एक फिल्मी गाना है,— ‘मैं ऐसा क्यों हूँ, मैं जैसा हूँ वैसा क्यों हूँ, कोई तो बताए मुझे...।’ हम जिस दुनिया में रहते हैं उसमें भाषा के शब्दों, मुहावरों, रीतियों, विनोदों, विश्वासों में बहुत कुछ ऐसा है जिसे हम नहीं जानते और वे भी अपनी पहचान खो चुके हैं। हमारी ओर देखते हुए वे भी शायद यही बहुत पहले से दुहरा रहे हैं,— ‘कोई तो बताए मुझे, मैं जैसा हूँ वैसा क्यों हूँ।’ लोग उनकी आवाज नहीं सुन पाते। चुपचाप बगल से गुजर जाते हैं। पर मैं, जब बच्चा था तभी से उनकी आवाज सुनकर बेचैन हो जाता था और अपने बड़ों से जानने का प्रयत्न करता रहता कि उनका वह नाम क्यों है? उत्तर कभी नहीं मिला, परन्तु प्रश्न मुझे लगातार बेचैन करते और मैं उनका समाधान तलाशने के लिए ऊहापोह में लगा रहता।

बचपन में हम एक खेल खेलते थे। उसका नाम था **चिक्का/चिकही**। यह दुर्गरक्षण का खेल था। इसका पाला निम्नांकित आकृति में खींचा जाता था। इसमें भीतरी पक्ष केवल पाले पर अर्थात् दीवारों पर चल सकता था। उसका नेता (दलपति) बीच के गलियारे से सामने आकर बाहरी



दल के नेता से हाथ मिलाता। इसे **बसहा** लड़ाना कहते थे। वह इस प्रयास में रहता कि आक्रान्ता बसहा के पाँव को अपने पाँव से छू दे। इसके बाद वह मरा हुआ मान लिया जाता। मरने को 'उल्ला' कहते थे। बाहरी दल का नेता भीतरी दल के खिलाड़ियों को पाली से बाहर खींचने का प्रयत्न करता। पाली से पाँव हटते ही, अर्थात् दुर्ग प्राचीर से पाँव खिसकते ही, वह मरा मान लिया जाता। बाहरी दल केवल सामने से आक्रमण कर सकता था। दाँये या बाँये जाने पर भी वह 'उल्ला' हो जाता। वह इस प्रयत्न में रहता कि वह कूद कर भीतर घुस जाए और फिर पिछली रक्षा-पंक्ति को भेद कर पाले के पीछे चला आए और फिर सुरक्षित वापस आ जाए। इस बीच सारा खेल दीवार से खींचने अथवा पाँव पर पाँव रखकर मारने का होता।

खेल का इतिहास तो बाद में समझ में आया। '**बसहा**' का अर्थ भी समझ में आ गया कि वह **वृषभ** का तद्भव है। 'बसहा लड़ाना' साँड़ों की लड़ाई से लिया हुआ शब्द हो सकता है। पर **चिक्का** या **चिकही** और **उल्ला** का अर्थ न पहले समझ में आया था, न बाद में समझ में आ रहा था, जबकि कोई शब्द अर्थहीन नहीं होता और ऐसा शब्द गढ़ लेना जिसके किसी घटक का कोई अर्थ ही न होता हो, लगभग असम्भव है। फिर इसका अर्थ क्या हुआ? अब तो बच्चे यह खेल ही नहीं खेलते, इसलिए मेरी बोली से ये तीनों शब्द 'उल्ला' हो गए।

चिक्का या **चिकही** का अर्थ क्या है, यह पूछने पर लोग कहते, भई, हरेक शब्द का अर्थ नहीं होता। इसे यही कहा जाता है। इसका अर्थ है वह खेल। इस तरह के उत्तर सुन कर हँस भी नहीं सकता, क्योंकि भाषा की उत्पत्ति के विषय में ऐसे ही उत्तर अनेक भाषाविज्ञानी तक देते रहे हैं। आदम ने और आदम ने नहीं तो आदमी ने जिन चीजों को जो कहकर पुकारा, वही उसकी संज्ञा हो गई। बोध के स्तर पर ऐसे लोग उन विद्वानों से कुछ कम नहीं थे। परन्तु मेरे लिए यह एक यक्ष प्रश्न था, जिन शब्दों का कोई अर्थ नहीं समझ में आता, उनका अर्थ क्या था या क्या हो सकता है?

द्रविड़ भाषाएँ सीखने लगा तो कुछ ऐसे शब्दों का साक्षात्कार हुआ जो पहले अर्थहीन प्रतीत होने वाले अनेक शब्दों का अर्थ समझने में सहायक थे और हाल ही में मुंडा बोलियों में से कुछ का व्याकरण और कोश देखने पर लगा वे भी यही काम कर सकती हैं। तमिल में **चिक्कू** का अर्थ है उलझन, गुथ्यमगुथ्य होना, पेंच, अंकुस; **चिक्करुक्क** (तमिल में दो तरह के 'र' होते हैं। एक हमारे 'र' की तरह मूर्धन्य और दूसरा संघर्षी, जिसके लिए हमने अधोरेखा का सहारा लिया है) का अर्थ है उलझन को सुलझाना; **चिक्करुक्कि** एक तरह के कंधे के लिए प्रयोग में आता है। चिक्कुण्ण का अर्थ है- उलझा, बखेड़े में पड़ा हुआ। चिक्कुप्पाडु- पेंच, उलझाव। चिक्कुवांगि भी एक दूसरी तरह के कंधे के लिए प्रयोग में आता है। चिक्केन- कस कर, ठूस कर। चिक्कुचनवु- चिक्क का भाववाची। इस शब्द शृंखला को देखने से लगता है कि ये किसी ऐसी बोली के शब्द हैं, जिसका समावेश तमिलभाषी समुदाय में सबसे अधिक हुआ है। तमिल में ही 'उल' का अर्थ है- मरना, नष्ट होना, खत्म होना। 'उलक्कै' और 'उलप्पु' का अर्थ है- मृत्यु, क्षति, हानि। इस शब्दावली से चिकही या चिकके के खेल में उल्ला होने वालों का भी रहस्य उद्घाटित है। सच तो यह है कि उलझने, भिड़ने, एक दूसरे में फँसने में तो साँड़ों की लड़ाई का पूरा चित्र ही सामने उतर आता है।

अब अज्ञान का स्थान विस्मय ने ले लिया था। हमारे गाँव (पूर्वी उत्तर प्रदेश के गोरखपुर में स्थित) में कई हजार साल तक यह शब्द बच्चों के खेल में जीवित रहा, कैसे? आस-पास कहीं,

कभी, किसी द्रविड़ भाषी समुदाय के बसे होने की छाया स्थान नामों तक में न थी। आश्चर्य एक और बात को लेकर था। दुर्गविजय और खेल के माध्यम से गाँवों के बच्चों और युवकों को दुर्गरक्षण का प्रशिक्षण देने या पूर्वाभ्यास की परम्परा। एक युग का पूरा इतिहास उस शब्द में छिपा था जिसका अर्थ हम भूल गए थे, परन्तु जिसे समझने में हमारे ही देश की एक दूसरे परिवार की भाषा सहायक थी। बहुत-बहुत पहले हमारे भोजपुरी भाषाई समुदाय में किसी ऐसी बोली बोलने वालों का समावेश हुआ होगा, परन्तु इसका सबसे अधिक प्रभाव उस बोली पर पड़ा, जिसने आगे चल कर तमिल का रूप लिया।

हमारी चर्चा द्विभाषिता और बहुभाषिता से भी जुड़ी है, इसलिए यह याद दिलाना जरूरी है कि हमारी भाषाएँ और बोलियों स्वयं भी बहुभाषाई दाय हैं। वे स्वतन्त्र भाषाएँ हैं, न किसी पूर्वतरीन भाषा के विखंडन या ह्रास से पैदा हुई बच्चियाँ। अपनी स्वतन्त्रता के बाद भी ये बार-बार दूसरी बोलियों और भाषाओं से प्रभावित हुई हैं, उन्हें प्रभावित किया है और इस प्रभाव की दीर्घता के अनुरूप इनमें कुछ ऐसी समानताएँ पैदा हुई हैं, जिनसे पारिवारिकता का भ्रम पैदा हुआ है। यह प्रक्रिया आज भी चल रही है, पर इसके सूक्ष्म प्रभाव का सही आकलन करने की हमारे पास कोई योजना नहीं है। इसी को ध्यान में रखते हुए हम अपनी व्याख्या करें तो बार-बार अपने बयान न बदलने पड़ेंगे, जो अपनी इकहरी या वर्चस्ववादी सोच के कारण पाश्चात्य अथवा लगभग सर्वमान्य होने के कारण आधुनिक तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान को करना पड़ा है। अतः स्वतन्त्रता और परग्राहिता दोनों की बात हम सापेक्ष रूप में ही कर सकते हैं। हमारी बोलियों का इतिहास वैदिक से भी अधिक पुराना है, और हमारी भाषाएँ एस्पेरान्तो से भी अधिक नवीन हैं। वे एक दूसरे में कई कारणों से प्रवेश करती रही हैं और उन्हें बदलती रही हैं, दूसरी भाषाएँ हमारे भाषाई-क्षेत्र में प्रवेश करती रही हैं और इन्हें बदलती रही हैं। इस क्रम में शब्दभंडार ही नहीं व्याकरण तक बदला है, फिर भी कुछ है जो अपरिवर्तित रह गया है और वही उनकी स्वतन्त्रता की पहचान है। इसलिए भाषाओं की निजी पहचान उनमें मिलने वाली समानताओं से भी अधिक उनकी भिन्नताओं में है।

हम अन्य भाषाओं के माध्यम से अपनी भाषा के रहस्यलोक में और अपने अज्ञात इतिहास में पहुँच जाते हैं। आप देखें कि इससे पहले तो किसी इतिहासकार ने कभी सोचा नहीं था कि बच्चों और युवकों को युद्धकौशल के शिक्षण की परम्परा हमारे देश में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है, जिसे हम भूल चुके थे।

अब हम उस शब्द या उन शब्दों पर आएँ, जिनके विषय में हमें यह भ्रम रहता है कि उनका अर्थ हम जानते हैं। उदाहरण के लिए तमिल में **चिक्कम्** का अर्थ **शिखा** या चोटी है। तमिल में **श** और **स** के लिए **च** का प्रयोग होता है। **शृगार** को **चिङ्कारम्** और **स्वामी** को **चामी** लिखा जाता है।

परन्तु यदि 'शिखा' का पुराना रूप **चिका** और 'शिखर' का **चिकर** रहा हो तो हैरानी की बात नहीं। केश के लिए चिकुर का प्रयोग सामान्य नहीं है, परन्तु विद्यापति से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक इसका प्रयोग कर चुके हैं। सं. में **चिकुर** और **चिकूर** दो रूप प्रचलित हैं जिससे प्रकट है कि यह उसका अपना शब्द नहीं है।

भोजपुरी का एक शब्द है **चिखुरल**। इसका प्रयोग हाथ से घास-पतवार जड़ से उखाड़ने के लिए होता है। भोजपुरी क्षेत्र के नामों में **चिखुरी** और **चीखुर** भी मिल जाएँगे। कोश में **चिकुर**

के, केश के अतिरिक्त, कुछ अन्य अर्थ भी मिलते हैं- पहाड़, रेंगने वाला कीड़ा, गिलहरी, छछूंदर। अन्तिम तीन के मामले में उनकी ध्वनि के आधार पर उन्हें यह नाम मिला हो सकता है, परन्तु पहाड़ इनसे अलग है। क्या यह संज्ञा घास-फूस से पहाड़ों के ढँके होने के कारण उन्हें मिली है? घास-फूस भी धरती के ऊपर उगे हुए केश ही तो हैं। पहाड़ों की वनस्पतियों की तुलना भी कौशल से की जाती रही है। ऋग्वेद में पहाड़ों के लिए वृक्षकेश- गिरयः वृक्षकेशाः- उपमा आई है। सम्भव है केशलुंचन के लिए किसी बोली में **चिकुरना** प्रयोग में आता रहा हो। फिर **चिकुरे हुए** तेल पुते सिर के लिए **चिक्कन/चिक्कण** प्रचलित हुआ हो। संस्कृत में भी चिक्कण को स्थान मिल गया, परन्तु जो बात हिंदी के **चिकना-चुपड़ा** के युग्म में है वह चिक्कण में कहाँ।

भोजपुरी का ही एक अन्य शब्द है **चिडुरल-** कपड़े आदि में सलवटें पड़ जाना, और इस तरह उसके आकार का भी **सिकुड़** जाना। **सिकुड़ना, सिकुड़न** इसी स्रोत से जुड़ा शब्द है। यह जानना कुछ रोचक हो सकता है कि तमिल में **चिड्कु** का अर्थ है कम होना, छोटा होना, गिरना और सड़ना। संभवतः अंग्रेजी के shrink/shrinkage का इसी से सम्बन्ध है। संस्कृत में इस आशय के लिए **संकुच/संकोच** बनाया गया। इसमें **कुच** के साथ सम्-उपसर्ग का सहारा लिया गया है। **कुंचित** का अर्थ मुड़ा हुआ है। परन्तु **कोञ्चम्** का तमिल में अर्थ होता है थोड़ा, तनिक; **कोच्चै** का अर्थ है नीचता, हीनता, तुच्छता। सम्भवतः बांग्ला **किडू** और हिन्दी **कुछ** भी इसी के समस्रोतीय हैं और यही **कुचन, कुंचित, कुच, गुंजलक** के मूल में है। **कुंचित** का प्रयोग केश के साथ ही देखने में आता है। तमिल में **कुञ्चि-** केवल पुरुष की लट के लिए प्रयोग में आता है। ये किसी ऐसी बोली से आए हुए शब्द हैं, जिनकी सही पहचान करने की स्थिति में हम नहीं हैं, परन्तु इसका प्रसार बहुत व्यापक था। द्रविड़ में इसका प्रसार अपेक्षाकृत अधिक दिखाई देता है। तमिल में **कुञ्चन** का अर्थ कुबड़ा है जो सं. में **कुञ्ज** के रूप में मिलता है। **कुञ्चिरिप्पु-** मुस्कान के लिए। इसमें **चिरिप्पु** मुस्कान के लिए है और **कुञ्** ईषत् के आशय में, इसलिए **कुञ्चिरिप्पु** का अर्थ हुआ स्मेर मुख।

बांग्ला में **चिरुनि** का अर्थ कंधी (चूल आँचड़ाइबार **काँकुरी**) दिया हुआ। कर्हें, **कंधी** का भी पुराना रूप **कंकी** या **काँकी** था। **कंक** का अर्थ हड्डी है, **कंकाल** का अर्थ **अस्थिजाल** या 'हड्डी का ढाँचा' और **कंगाल** का मतलब हुआ जो 'कंकाल मात्र रह गया हो' कोशों में हमें इसके 'निर्धन, गरीब, भुक्खड़' जैसे अर्थ तो मिलेंगे, जिसके लिए ब्याज रूप में वह स्वयं दोषी या निकम्मा सिद्ध हो, परन्तु घोर अभाव और कुपोषण और इनके पीछे घोर आर्थिक विषमता को ध्वनित करने वाला आशय और मृत्यु के कगार पर पहुँचे हुए व्यक्ति का आभास नहीं मिलेगा। यही नहीं, कोई सम्पन्न व्यक्ति भी किसी व्याधि से कंकालमात्र रह जाय तो उस पर यह लागू भी नहीं होगा। सामाजिक और आर्थिक पूर्वग्रह यदि समाज में हैं तो भाषा में भी प्रकट होंगे ही।

कंकी या **काँकी** का निर्माण मछली के काँटे (**कंट**) या **कंक** की नकल पर किया गया था, यह तो **कंधी** को देखकर भी समझ में आ जाता है। कंक का सबसे पुराना प्रयोग सांप की रीढ़ के काँटे के लिए ऋग्वेद (ऋ. 1.191.2 और 7) में आया है। **कंकण**, या **कंकन** (कंगन) सम्भवतः आरम्भ में कंबु या शंख को तराश कर बनाए जाते थे, यह बांग्ला के शाँखेर चूड़ी सुन कर याद आ जाएगा। सबसे सुन्दर थे शंख और हाथीदाँत के कंगन, फिर तो धातुयुग में काँसे और मिट्टी तक के कंगन बनने लगे। कंगन को राजस्थान में बंगन कहते थे। पुरातत्व स्थल कालीबंगा के टीले पर काली चूड़ियों के टुकड़े बिखरे दिखाई देते थे इसलिए लोगों ने इसका नाम कालीबंगा

रख दिया था। और बंगन अंग्रेजी के bangle का मूल है। संभवतः बंग वंक या मुड़े हुए, गोलाकार से सम्बन्ध रखता हो।

हमारे कोशों में शब्दों का प्रयोग किस वस्तु या व्यापार के लिए किया जाता है यह तो पता चल जाता है, परन्तु वही अर्थ क्यों है, या वे ही अर्थ क्यों है, इसका पता तब तक नहीं चलता जब तक उससे निकटता रखने वाले किसी संस्कृत शब्द की याद नहीं आ जाती। इसके बाद हमें धातु-प्रत्यय-उपसर्ग तद्भव-तत्सम सभी का पता चल जाता है। परन्तु जिन शब्दों से हम इन्हें मिला कर समझते हैं, वे भी भ्रामक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि हिन्दी 'जाना' की व्युत्पत्ति जानना चाहें तो कोई जानकार बता सकता है कि यह संस्कृत **गम्** से निकला है। उसे यदि गच्छति के स्थान पर जगाति रूप की याद आ गई तो भी वह इस भ्रम में रह सकता है कि यहाँ **ग** से पहले **ग** के आने पर पहले **ग** का **ज** हो गया है, जैसे **ककार** का **चकार** हो जाता है।

यह याद आने या दिलाए जाने पर कि वैदिक में तो यम् (यति-गच्छति-जाता है) भी मिलता है, और गमन के आशय में 'जुगू'- विश्वासु क्षासु जोगुवे- प्रयोग भी मिलता है, तब वह उलझन में पड़ सकता है। कहें, **गम्, ग्म, जम, ज्म, यम्, जगू, मक, मग** के बीच कोई नया या पुराना नहीं है, अपितु विविध भाषाई समुदायों द्वारा एक अति प्राचीन मूल जिसके भी जं, कं, गं भेद रहे हैं और जो जल के अर्थ में था, उससे निकले और उनकी ध्वनिव्यवस्था के अनुरूप समायोजित उच्चारण है। रोचक बात यह कि फ़ारसी गुजर में **जुगू** का उल्टा रूप मिलता है और गुजर में जो याम के पूरा होने पर प्रहर या प्रहार की ध्वनि है उसमें गज अर्थात् चलने वाला आशय है। **गज** अर्थात् हाथी, में भी **गज** ही है। (यहाँ यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं कि अष्टिकांश जीवों के नामकरण का आधार उनकी गतिशीलता- उनकी जग्मता या जंगमता- या उनकी अपनी ध्वनि रही है।

हमारी भाषा की निर्माण प्रक्रिया में जिन बोलियों का समंजन हुआ है उनमें से एक में उकारप्रियता बहुत प्रबल थी। मोटे तौर पर कहें तो पश्चिमी बोलियों को छोड़कर दूसरी बोलियाँ स्वर प्रधान रही हैं और इनके शब्द अजन्त या स्वरान्त हुआ करते थे और आज भी यही स्थिति है। इसलिए इनके बोलने वाले अपनी भाषाओं के सुरिलेपन या माधुर्य पर गर्व करते हैं। पश्चिमी बोलियों के हलन्त उच्चारण और स्वरलोप का एक कारण यह है कि पहले इन क्षेत्रों में द्रविड़ बस्तियों का आपेक्षिक बाहुल्य रहा है परन्तु साथ ही एक ऐसी बोली भी थी, जिसमें स्वरों की स्थिति दुर्बल थी और वे उनका लोप भी कर लेते हैं जिससे असवर्ण व्यंजन संयोग की प्रवृत्ति देखने में आती है। यद्यपि वैदिक में भी इसका गहरा पुट है- वैदिक इदु, अदु, एदु तो तेलुगु से अभिन्न हैं- परन्तु द्रविड़ परिवार में गिनी जाने वाली तेलुगु में उकारान्तता का आग्रह सबसे अधिक है। सो इसी के कारण कं और गं के कू/को और गु/गो रूप बने थे और इनका भी प्राथमिक अर्थ जल बना रहा था। विद्वान लोग भी अर्थ करते समय इन पहलुओं का ध्यान नहीं रख पाते। ऋग्वेद की एक नदी है गोमती। इसका साम्य आक्रमणवादी तकाजे से गोमल से ढूँढा गया है। इसका अर्थ करते हुए बताया जाता है गायों के मामले में समृद्ध। गायों के मामले में वह छोटी सी पहाड़ी नदी समृद्ध रही हो सकती है, यह विद्वानों के अधिकार को प्रकट करता है, पर वास्तविकता से मेल नहीं खाता। उत्तर प्रदेश में **गोमती** नाम की एक दूसरी नदी है। **गोदावरी** की ओर तो हमें ध्यान देना ही चाहिए। इन सभी में गो का अर्थ जल है, न कि गाय। इसी तरह कुमुद जो जलज का पर्याय है, उसका कुं **कं का** ही भेद है।

यम, जम, गम, कम, जग, गज, ज्म, ग्म, क्म, क्ष्म आदि जिस भी मूल से निकल कर विविध रूपों में अनेक भाषाभाषियों द्वारा उच्चरित होते रहे और फिर इनका समीभवन हो गया, उसके पीछे है उन भाषाई समुदायों का एक ही आर्थिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया में जुड़कर एक ही भाषा को अपनी भाषाई सीमाओं के साथ बोलना। इस भिन्नता को एक पंजाबी, बिहारी, छत्तीसगढ़ी, बंगाली, हैदराबादी, अहमदाबादी और मुम्बइया हिन्दी बोलने वालों की भिन्नताओं में और नाटकों और फिल्मों में इनके प्रयोग से समझा जा सकता है। इस प्रक्रिया का एक चरण सरस्वती सभ्यता के निर्माण और विकास के क्रम में पूरा हो चुका था। हम यह देख आए हैं कि हमारी अपनी बोलियाँ तक कई भाषाई समुदायों के मेल-जोल का परिणाम हैं और उनकी भाषाएँ आज तक अपने ढंग से सक्रिय हैं। भोजपुरी में उकार की तरह ही याकार/वाकार के अन्त्य प्रयोग की रीति है- बदरी-बदरिया, भँइसि-भँइसिया, भाई-भइया, बदरा-बदरवा, खेत-खेतवा आदि। इसमें दो अन्य आलंकारिक घटकों का परसर्ग के रूप में प्रयोग होता है। एक **ठो**, दू **ठो**/ एक **गो**, दू **गो**। यह **ठो** और **गो** दो भिन्न भाषाई समुदायों के उस क्षेत्र के समाज में विलीन होने के परिणाम हैं। इनमें से **गो**, मराठी के **आई गो**, और **ठो** बांग्ला के **टि/टा** (एक टि कौथा, एक टा मानुष, में देखा जा सकता है)। कहे, इन घटकों का प्रयोग करने वालों के जत्थे दूसरे भाषाक्षेत्रों में भी दूर-दूर तक फैले हुए थे। वे स्थानीय जनों में विलीन हो गये, परन्तु उनकी अलग पहचान आज तक इस तरह के अमित भाषाई घटकों में स्मृतिचिन्ह के रूप में बची हुई है और तब तक बची रहेगी जब तक ये भाषाएँ जीवित हैं।

महत्वपूर्ण बात यह है कि यह वैविध्य या अन्तर्विलय संस्कृत से तो पुराना है ही, वैदिक से भी बहुत पुराना है। परन्तु इसका सबसे रोचक पहलू यह है कि अपनी बोलियों के जिन शब्दों को हम संस्कृत का तद्भव मानते हैं, उनमें ऐसे शब्दों की संख्या काफी बड़ी है जो संस्कृत के तत्सम रूप से अधिक पुराने हैं। जैसा हमने कहा, हिन्दी का जाना, भोजपुरी का गइल, जाइल संस्कृत गम/यम से नहीं निकले हैं, ये उन बोलियों के शब्द हैं जिनमें से किसी एक का सांस्कृतिक गतिविधि में केंद्रीय भूमिका निभाने के कारण, मानकीकरण, संस्कृतीकरण और फिर संकरण हुआ था और इस तरह वैदिक भाषा अस्तित्व में आई थी, जिसमें प्रयोग वैविध्य इतने थे कि एक वैयाकरण ने कहा कि सभी नियमों के विकल्प वैदिक में मिल जाते हैं- *सर्वे विध्यः छन्दसि विकल्पयन्ते*। और फिर पाणिनि ने अपने दुर्धर्ष प्रयत्न और विलक्षण प्रतिभा से विकल्पों के बीच से एक नियमित भाषा का उद्धार किया जो उस मूल भाषा के निकटतम थी जिसका विविध क्षेत्रों और जनों के बीच प्रयोग होने के कारण संकरण हुआ था।

यहाँ हमें इस पक्ष पर ध्यान इसलिए दिलाना पड़ा कि हम यह समझ सकें कि परस्पर प्रभावित तो भारत की सभी बोलियाँ हैं, उन्हें जिस भी भाषाकुल में रखा गया हो, परन्तु इसके बाद भी उनके बहुत से प्राचीन तत्व आज तक बने रह गए हैं। यह बात द्रविड़ और मुंडारी बोलियों के संदर्भ में तो समझ में आ जाती है, परन्तु आर्यभाषाओं और बोलियों के विषय में इसलिए समझ में नहीं आती कि उनकी बहुत गड़बड़ व्याख्याएँ दी जाती रहीं। संस्कृत का अधस्तरीय प्रभाव से विकृत होना या बदलना, फिर प्राकृत बन जाना और आगे चल कर अपभ्रंश में परिवर्तन और उस अपभ्रंश के प्रभाव से आधुनिक भारतीय बोलियों का उदय। इस व्याख्या को हमारे भाषाविज्ञानियों और अन्य विद्वानों ने पचाकर अपनी चेतना का अंग बना लिया। इसलिए छूटते ही तत्सम-तद्भव, प्राकृत-अपभ्रंश के चक्कर में पड़ जाते हैं और उनकी इन लगभग वाहियात व्याख्याओं से हमारा

अपना ही दिमाग चकरा जाता है। बोलियाँ इस चक्कर से बहुत प्राचीन काल से स्वच्छन्द चली आ रही हैं, यद्यपि उनका चरित्र संस्कृत की तुलना में और यत्किंचित उसके प्रभाव में बहुत बदला है। उनकी प्रकृति को, उनकी समानताओं को नहीं, अपितु भिन्नताओं को समझते हुए ही समझा जा सकता है। भारोपीय भाषाविज्ञान की सबसे बड़ी कमी यह थी कि इसमें केवल समानताओं की खोज की गई; भिन्नताओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। इस ओर ध्यान दिलाने वाले पहले भाषाविज्ञानी रामविलास शर्मा हैं, यद्यपि यह भी स्वीकार करना होगा कि कोई भी प्रथम प्रयास पूर्ण और त्रुटिहीन नहीं होता। यह पेशेवर भाषाविज्ञानियों और भाषा के गहन अध्ययन में रुचि लेने वाले अन्य अध्येताओं का काम था कि वे उस दिशा में नये अनुसंधान करते और रामविलास जी से जहाँ कोई चूक हुई हो उसे प्रकाश में लाते हुए उनके अधूरे काम को पूरा करते। मुझे यह मानने में कोई संकोच नहीं कि रामविलास शर्मा भाषाविज्ञान के क्षेत्र में सुनीति कुमार चटर्जी के शिष्य होने से अधिक की योग्यता नहीं रखते, परन्तु उनकी स्थापनाएँ सुनीति कुमार चटर्जी की स्थापनाओं से अधिक सही और अनुगमनीय हैं।

हमारी भाषाओं का उत्स अनुनादी ध्वनियों में तलाशा जा सकता है। धातुओं का निर्धारण समनादी और समार्थी शब्दों की शृंखला तैयार करके ही किया गया था, परन्तु धातुएँ एक सीमा से आगे नहीं बढ़ पातीं, क्योंकि उनका लक्ष्य भाषा के उद्भव और विकास को समझाना नहीं था, अपितु वैदिक भाषा की जटिलताओं को समझना था। फिर धातुओं में से अनेक के कई अर्थ होते हैं जैसे 'अञ्जू' का अर्थ व्यक्ति, मर्षण, कान्ति और गति है- 'अञ्जू व्यक्तिमर्षणकान्तिगणु'। सबसे मजेदार तो 'अव' धातु है, जिसके इतने अर्थ हैं कि सिर चकरा जाये: 'अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रदणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्यवाप्त्यालिंगनहिंसादानभागवृद्धिषु'। अतः यह समस्या बनी ही रह जाती है कि एक ही ध्वनि में अनेक अर्थों का समावेश कैसे हुआ। इसकी व्याख्या धातु-प्रत्यय परिपाटी से नहीं हो सकती। इसका रहस्य ध्वनि के विविध स्रोतों में निहित है, (देखें, सिंह: आर्य द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता, 1973, अध्याय 8)। अर्थभेद का एक कारण यह है कि हमारी बोलियों से लेकर मानक भाषाओं तक सभी संकरित भाषाएँ हैं। पाश्चात्य विद्वान अपने पूर्वाग्रहों के कारण इसे बहुत अधूरे और उलझे रूप में ही पेश कर पाते हैं। वे अपने कथन को अपनी सुविधानुसार बदलते भी रहते हैं। मोटे तौर पर वे बताते हैं कि इसमें सबसे पहले द्रविड़ की मिलावट हुई, क्योंकि आर्यभाषी जब दक्षिण एशिया में जैसे भी और जब भी आये, उनको पश्चिमोत्तर में द्रविड़ जनों का निवास मिला और उनकी भाषा स्थानीय-भाषा से प्रभावित हुई। उनकी यह मुहिम तब तक चलती रही जब तक मिशनरियों का धर्मान्तरण अभियान मद्रास में अधिक सक्रिय था। जब केन्द्र बदल कर मध्य-पूर्व भारत—झारखंड और छत्तीसगढ़— हो गया तो बताया जाने लगा कि उसी क्षेत्र में उनका साबका द्रविड़ों से नहीं अपितु मुंडारियों से और इनकी भाषा से पड़ा।

इस प्रश्न को हमने इसलिए उठाया कि हम वैदिक, संस्कृत अथवा आधुनिक भाषाओं में से किसी का अध्ययन उन्हें शुद्ध और अविकल मान कर नहीं कर सकते, वह भाषा किसी कुल में क्यों न रखी जाती हो। यह क्रम दसियों हजार साल से, सभ्यता की प्राथमिक अदबद चाल के दिनों से ही चला आ रहा है। सबसे पहले देशज या भदेस बोली का मानकीकरण और संस्कृतीकरण हुआ था, दूसरी भाषाई पृष्ठभूमियों से आए हुए लोगों के उस प्रक्रिया में सम्मिलित होने के कारण यह संकरण ऋग्वेद के रचनाकाल से कई हजार साल पहले आरम्भ हुआ था। परन्तु

इसे देखने और स्वीकार करने का साहस वे विद्वान नहीं कर सकते जो भाषा की आड़ में अपने श्रेष्ठताबोध के लिए नकली साक्ष्य तैयार कर रहे थे और इसलिए उस गहराई में उतरने से कतरा रहे थे जिसमें उतरने पर इस छद्म का उद्घाटन हो जाता।

खैर, इस तथ्य को समझने के साथ हम एक ऐसी धूपछाँही दुनिया में पहुँचते हैं जहाँ रोशनी का कोण बदलने के साथ ज्ञात अज्ञात में और अज्ञात ज्ञात में बदल जाता है और हम दुविधा में पड़ जाते हैं कि हमारा नितान्त अपना भी किसी और का तो नहीं! सभी भारतीय भाषाओं की स्थिति यही है। इमेन्यू ने जिस स्तर तक उतरने के बाद भारत को एक भाषाई क्षेत्र (a linguistic area) कहा था, उससे गहराई में उतरने से वह कतरा रहे थे, जहाँ पहुँच कर भाषाई साझेदारी अधिक बढ़ जाती है और कम से कम भाषा परिवार की अवधारणा काल्पनिक प्रतीत होने लगती है। इसीलिए अन्य भारतीय भाषाओं और बोलियों को समझे बिना हम अपनी भाषा को भी अच्छी तरह नहीं समझ सकते। जिसे हम किसी संस्कृत शब्द का तद्भव मानते हैं वह तत्सम सिद्ध होने लगता है और स्वयं संस्कृत प्रतिरूप तद्भव में बदल जाता है। अब **सिंह** का पुराना रूप **चिंघ/सिंघ** बन जाता है, और **चिंघ** एव **चिग्घाड़ने** या भीम गर्जना करने वाले पशु। इस **चिग्घाड़** को संस्कृत ने चीत्कार के रूप में ग्रहण किया, पर ध्वनि परिवर्तन के साथ चिग्घाड़ की भयावहता चिंचियाहट में बदल जाती है। **शिर** इसी तरह **चिर** में बदल जाता है और भोजपुरी चिरुकी शिखा से पुरानी प्रतीत होने लगती है। बांग्ला में कंधे के लिए **चिरुनी** यदि मूल नहीं तो अधिक पुरानी प्रतीत होने लगती है। चीरने की मूल संकल्पना बालों को अलग करने, सीमन्त अर्थात् चीमन्त बनाने की क्रिया से जुड़ जाती है। अब **चूल/चूड़ा, जूड़ा**, यहाँ तक कि **चूड़ी** एक नये आर्थी स्रोत से जुड़ जाते हैं। अब लगता है **चूल** मूलतः लम्बे केश और फिर चोटी के लिए प्रयोग में आता रहा है और बांग्ला में उसका अर्थसंकोच हुआ है। जो भी हो चूल को तो संस्कृत ने **चौलकर्म-मुंडन** में अपना भी लिया।

शृंखल/शृंखला और उससे व्युत्पन्न शब्द जो **उत्-**, **वि-** आदि उपसर्ग लगाकर बनाए जाते हैं, और इसका तद्भव माना जाने वाला **सीकड़** ऐसे ही किसी स्रोत से लिए और संस्कृत की ध्वनि-प्रकृति में ढाले गए प्रतीत होते हैं। **सीकड़** (भोजपुरी **सीकड़ि**) में **कड़** को आप कड़ा अर्थात् कलाई में पहने जाने वाले **गुजहा** जिसे **कुंच/कुंज/गुंज** से जोड़ कर समझा जा सकता है। इस आधार से समझने का प्रयत्न कर सकते हैं। आद्य **सी/सिं/सिक** अर्थात् **चिक** का घिसा हुआ रूप है। पर बाँधी जाने वाली गोलाकार कड़ी जो एक दूसरे में फँसकर एक जंजीर या शृंखला का रूप ले लेती है उसे हम कंकण से कण में देख आए हैं। शृंखला के अन्तिम अंश में तो स्पष्ट है कि यह खल नहीं कड़ है। हथकड़ी की कड़ी उसी कंकण का लघु रूप है।